सं० १९८८ से २०५६ तक ८,१०,२५०
सं० २०५७ पचपनवाँ संस्करण २०,०००
योग ८,३०,२५०

मूल्य—एक रुपया पचास पैसे

प्रकाशक-मुद्रक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर २७३००५
फोन (०५५१) ३३४७२१; फैक्स ३३६९९७
visit us at www.gitapress.org / e-mail: gitapres@ndf.vsnl.net.in

॥ श्रीहरिः ॥ 378

आनन्दकी लहरें

हनुमानप्रसाद पोद्दार

आनन्दकी लहरें

'पुत्र, स्त्री और धनसे सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती। यदि होती तो अबतक किसी-न-किसी योनिमें हो ही जाती। सच्ची तृप्तिका विषय है केवल एक परमात्मा, जिसके मिल जानेपर जीव सदाके लिये तृप्त हो जाता है।'

'दुःख मनुष्यत्वके विकासका साधन है। सच्चे मनुष्यका जीवन दुःखमें ही खिल उठता है। सोनेका रंग तपानेपर ही चमकता है।'

'नित्य हँसमुख रहो, मुखको कभी मलिन न करो, यह निश्चय कर लो कि शोकने तुम्हारे लिये जगत्में जन्म ही नहीं लिया है। आनन्दस्वरूपमें सिवा हँसनेके चिन्ताको स्थान ही कहाँ है।'

'सर्वत्र परमात्माकी मधुर मूर्ति देखकर आनन्दमें मग्न रहो; जिसको सब जगह उसकी मूर्ति दीखती है, वह तो स्वयं आनन्दस्वरूप ही है।'

'शान्ति तो तुम्हारे अन्दर है। कामनारूपी डाकिनीका आवेश उतरा कि शान्तिके दर्शन हुए।

वैराग्यके महामन्त्रसे कामनाको भगा दो, फिर देखो सर्वत्र शान्तिकी शान्त मूर्ति।'

'जहाँ सम्पत्ति है, वहीं सुख है, परन्तु सम्पत्तिके भेदसे ही सुखका भी भेद है। दैवी सम्पत्तिवालोंको परमात्म-सुख है, आसुरीवालोंको आसुरी-सुख और नरकके कीड़ोंको नरक-सुख।'

'किसी भी अवस्थामें मनको व्यथित मत होने दो। याद रखो, परमात्माके यहाँ कभी भूल नहीं होती और न उसका कोई विधान दयासे रहित ही होता है।'

'परमात्मापर विश्वास रखकर अपनी जीवन-डोरी उसके चरणोंमें सदाके लिये बाँध दो, फिर निर्भयता तो तुम्हारे चरणोंकी दासी बन जायगी।'

'बीते हुएकी चिन्ता न करो, जो अब करना है, उसे विचारो और विचारो यही कि बाकीका सारा जीवन केवल उस परमात्माके ही काममें आवे।'

'धन्य वही है, जिसके जीवनका एक-एक क्षण अपने प्रियतम परमात्माकी अनुकूलतामें बीतता है,

चाहे वह अनुकूलता संयोगमें हो या वियोगमें, स्वर्गमें हो या नरकमें, मानमें हो या अपमानमें, मुक्तिमें हो या बन्धनमें।'

'सदा अपने हृदयको टटोलते रहो, कहीं उसमें काम, क्रोध, वैर, ईर्ष्या, घृणा, हिंसा, मान और मदरूपी शत्रु घर न कर लें। इनमेंसे जिस किसीको भी देखो, तुरंत मारकर भगा दो। पर देखना बड़ी बारीक नजरसे सचेत होकर, वे चुपके-से अंदर आकर छिप जाते हैं और मौका पाकर अपना विकराल रूप प्रकट करते हैं।'

'किसीके भी ऊपरके आचरणोंको देखकर उसे पापी मत मानो। हो सकता है कि उसपर मिथ्या ही दोषारोपण किया जाता हो और वह उसको अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेकी परिस्थितिमें न हो। अथवा यह भी सम्भव है कि उसने किसी परिस्थितिमें पड़कर अनिच्छासे कोई बुरा कर्म कर लिया हो, परंतु उसका अन्तःकरण तुमसे अधिक पवित्र हो।'

'मकान मेरा है, चूनेके एक-एक कणमें मेरापन

भरा हुआ है, उसे बेच दिया, हुण्डी हाथमें आ गयी, इसके बाद मकानमें आग लगी। मैं कहने लगा, 'बड़ा अच्छा हुआ, रुपये मिल गये।' मेरापन छूटते ही मकान जलनेका दुःख मिट गया। अब हुण्डीके कागजमें मेरापन है, बड़े भारी मकानसे सारा मेरापन निकलकर जरा-से कागजके टुकड़ेमें आ गया। अब हुण्डीकी तरफ कोई ताक नहीं सकता। हुण्डी बेच दी, रुपयोंकी थैली हाथमें आ गयी। इसके बाद हुण्डीका कागज भले ही फट जाय, जल जाय, कोई चिन्ता नहीं। सारी ममता थैलीमें आ गयी। अब उसीकी सम्हाल होती है। इसके बाद रुपये किसी महाजनको दे दिये। अब चाहे वे रुपये उसके यहाँसे चोरी चले जायँ, कोई परवा नहीं। उसके खातेमें अपने रुपये जमा होने चाहिये और उस महाजनका फर्म बना रहना चाहिये। चिन्ता है तो इसी बातकी है कि वह फर्म कहीं दिवालिया न हो जाय। इस प्रकार जिसमें ममता होती है, उसकी चिन्ता रहती है। यह ममता ही दुःखोंकी जड़ है। वास्तवमें 'मेरा' कोई

पदार्थ नहीं है। मेरा होता तो साथ जाता। पर शरीर भी साथ नहीं जाता। झूठे ही 'मेरा' मानकर दुःखोंका बोझ लादा जाता है। जिसकी चीज है, उसे सौंप दो। जगत्‌के सब पदार्थोंसे मेरापन हटाकर केवल परमात्माको 'मेरा' बना लो। फिर दुःखोंकी जड़ ही कट जायगी।'

'इस संसारमें सभी सरायके मुसाफिर हैं, थोड़ी देरके लिये एक जगह टिके हैं, सभीको समयपर यहाँसे चल देना है, घर-मकान किसीका नहीं है, फिर इनके लिये किसीसे लड़ना क्यों चाहिये?'

'जगत्‌में जड कुछ भी नहीं है, हमारी जडवृत्ति ही हमें जड़के दर्शन करा रही है, असलमें तो जहाँ देखो, वहीं वह परम सुखस्वरूप नित्य चेतन भरा हुआ है। तुम-हम कोई उससे भिन्न नहीं। फिर दुःख क्यों पा रहे हो? सर्वदा-सर्वदा निजानन्दमें निमग्न रहो।'

'जहाँ गुणोंका साम्राज्य नहीं है वहीं चले जाओ। फिर निर्भय और निश्चिन्त हो जाओगे। ये गुण ही दुःखोंकी राशि है।'

'पराये पापोंके प्रायश्चित्तकी चिन्ता न करो, पहले अपने पापोंका प्रायश्चित्त करो।'

'किसीके दोषको देखकर उससे घृणा न करो और न उसका बुरा चाहो। यदि ऐसा न करोगे तो उसका दोष तो न मालूम कब दूर होगा; पर तुम्हारे अपने अंदर घृणा, क्रोध, द्वेष और हिंसाको अवश्य ही स्थान मिल जायगा। उसमें तो एक ही दोष था; परंतु तुममें चार दोष आ जायँगे। हो सकता है, तुम्हारे और उसके दोषोंके नाम अलग-अलग हों।'

'दूसरेके पापोंको प्रकाश करनेके बदले सुहृद् बनकर उनको ढँको। सूई छेद करती है, पर सूत अपने शरीरका अंश देकर भी उस छेदको भर देता है। इसी प्रकार दूसरेके छिद्रोंको भर देनेके लिये अपना शरीर अर्पण कर दो, पर छिद्र न करो। धागा बनो सूई नहीं।'

'भगवान्‌को साथ रखकर काम करनेसे ही पापोंसे रक्षा और कार्यमें सफलता होती है।'

'वैरी अपना मन ही है, इसे जीतनेकी कोशिश करनी चाहिये। न्याय और धर्मयुक्त शत्रुको भी अन्याय और अधर्मयुक्त मित्रसे अच्छा समझना चाहिये।'

'अपनी स्वतन्त्रता बचानेमें दूसरेको परतन्त्र बनाना सर्वथा अनुचित है।'

'अगर आप दूसरेको चुपचाप बैठाकर अपनी बात सुनाना और समझाना पसंद करते है तो इसी तरह उसकी बात सुननेके लिये आपको भी तैयार रहना चाहिये।'

'अगर आप दूसरेको सहनशील देखना चाहते हैं तो पहले खुद सहनशील बनिये।'

'अगर किसी दूसरेके मनके विरुद्ध कोई कार्य करनेमें आप अपना अधिकार मानते हैं तो उसका भी ऐसा ही समझिये।'

'अपने मनके विरुद्ध शब्द सुनते ही किसीकी नीयतपर संदेह करना उचित नहीं।'

'अपने पापोंको देखते रहना और उन्हें प्रकाश कर देना भी पापोंसे छूटनेका एक प्रधान उपाय है।'

'जो लोग भगवन्नामका सहारा लेकर पाप करते हैं, जो नित्य नये पाप करके प्रतिदिन उन्हें नामसे धो डालना चाहते हैं, उन्हें तो नीच समझो। उनके पाप यमराज भी नहीं धो सकते।'

'पापोंसे छूटने या भोगोंको पानेके लिये भी भगवन्नामका प्रयोग करना बुद्धिमानी नहीं है। पापका नाश तो प्रायश्चित्त या फलभोगसे ही हो सकता है। तुच्छ नाशवान् भोगोंकी तो परवा ही क्यों करनी चाहिये? उनके मिलने-न-मिलनेमें लाभ-हानि ही कौन-सी है?'

'भगवन्नाम तो प्रियसे भी प्रियतम वस्तु है। उसका प्रयोग तो केवल उसीके लिये करना चाहिये।'

'इस भ्रममें मत रहो कि पाप प्रारब्धसे होते है, पाप होते हैं तुम्हारी आसक्तिसे और उनका फल तुम्हें भोगना पड़ेगा।'

'परमात्मापर विश्वास न होनेसे ही विपत्तियोंका, विषयोंके नाशका और मृत्युका भय रहता है एवं

तभीतक शोक और मोह रहते हैं। जिनको उस भयहारी भगवान्‌में भरोसा है, वे शोकरहित, निर्मोह और नित्य निर्भय हो जाते हैं।'

'मान चाहनेवाले ही अपमानसे डरा करते हैं। मानका बोझा मनसे उतरते ही मन हलका और निडर बन जाता है।'

'शरीरका नाश होना मृत्यु नहीं हैं, मृत्यु है वास्तवमें पापोंकी वासना!'

'मृत्युको स्वाभाविक बनानेवाला ही सुखसे मर सकता है।'

'जो आत्माको अमर नहीं जानते वे ही मृत्युसे काँपा करते हैं।'

'किसीको गाली न दो, वृथा न बोलो, चुगली न करो, असत्य न बोलो, सदा कम बोलो और प्रत्येक शब्दको सावधानीसे उच्चारण करो।'

'दूसरोंकी त्रुटियों और कमजोरियोंको सहन करो, तुममें भी बहुत-सी त्रुटियाँ हैं, जिन्हें दूसरे सहते हैं।'

'किसीको पापी समझकर मनमें अभिमान न करो कि मैं पुण्यात्मा हूँ। जीवनमें न मालूम कब कैसा कुअवसर आ जाय और तुम्हें भी उसीकी भाँति पाप करने पड़ें।'

'यदि बार-बार आत्मनिरीक्षण न कर सको— तो कम-से-कम दिनमें दो बार सुबह और शाम अपना अन्तर अवश्य टटोल लिया करो। तुम्हें पता लगेगा कि दिनभरमें तुम ईश्वरके और जीवोंके प्रति कितने अधिक अपराध करते हो।'

'लोग धनियोंके बाहरी ऐश्वर्यको देखकर समझते हैं कि ये बड़े सुखी हैं, हम भी ऐसे ही ऐश्वर्यवान् हों तब सुखी हों, पर वे भूलते है। जिन्होंने धनियोंका हृदय टटोला है, उन्हें पता है कि धनी दरिद्रोंकी अपेक्षा कम दुःखी नहीं हैं। दुःखके कारण और रूप अवश्य ही भिन्न-भिन्न हैं।'

'धनकी इच्छा कभी न करो, इच्छा करो उस परमधन परमात्माकी, जो एक बार मिल जानेपर कभी जाता नहीं। धनमें सुख नहीं है, क्योंकि धन तो आज है कल नहीं। सच्चा सुख परमात्मामें है—जो सदा बना ही रहता है।'

'प्रतिदिन सुबह और शाम मन लगाकर भगवान्‌का स्मरण अवश्य किया करो, इससे चौबीसों घंटे शान्ति रहेगी और मन बुरे संस्कारोंसे बचेगा।'

'धन, सम्पत्ति या मित्रोंको पाकर अभिमान न करो, जिस परमात्माने तुम्हें यह सब कुछ दिया है उसका उपकार मानो।'

'भक्त वही है जिसका अन्तःकरण समस्त पाप-तापोंसे रहित होकर केवल अपने इष्टदेव परमात्माका नित्य-निकेतन बन गया है।'

'भक्तका हृदय ही जब पापोंसे शून्य होता है, तब उसकी शारीरिक क्रियाओंमें तो पापको स्थान ही कहाँ है ? जो रात-दिन पापमें लगे रहकर भी अपनेको भक्त समझते हैं, वे या तो जगत्‌को ठगनेके लिये ऐसा करते हैं अथवा स्वयं अपनी विवेक-हीन बुद्धिसे ठगे गये हैं।'

'भक्त और साधु बनना चाहिये, कहलाना नहीं चाहिये। जो कहलानेके लिये भक्त बनना चाहते हैं, वे पापोंसे ठगे जाते हैं। ऐसे लोगोंपर सबसे पहला आक्रमण दम्भका होता है।'

'भक्ति अपने सुखके लिये हुआ करती है, दुनियाको दिखलानेके लिये नहीं, जहाँ दिखलानेका भाव है, वहाँ कृत्रिमता है।'

'पापी मनुष्य ही अपने पापोंका दोष हलका करने या पापोंमें प्रवृत्त होनेके लिये शास्त्रोंका मनमाना अर्थ कर उससे अपना मनोरथ सिद्ध किया चाहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णमें कलङ्क नहीं है, पापियोंकी पापवासना ही उनमें कलङ्कका आरोप करती है।'

'श्रीकृष्णका उदाहरण देकर पाप करनेवाले ही कलङ्की हैं, श्रीकृष्णका निर्मल चरित्र तो नित्य ही निष्कलङ्क है।'

'भगवान्‌की ओरसे कृत्रिम मनुष्यको कोपका और अकृत्रिमको करुणाका प्रसाद मिलता है। कोपका

प्रसाद जलाकर, तपाकर उसे शुद्ध करता है और करुणाका प्रसाद तो उस शुद्ध हुए पुरुषको ही मिलता है।'

'जो भगवान्‌का भक्त बनना चाहता है, उसे सबसे पहले अपना हृदय शुद्ध करना चाहिये और नित्य एकान्तमें भगवान्‌से यह कातर प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन्! ऐसी कृपा करो जिससे मेरे हृदयमें तुम्हें हर घड़ी हाजिर देखकर तनिक-सी पापवासना भी उठने और ठहरने न पावे। तदनन्तर उस निर्मल हृदय-देशमें तुम अपना स्थिर आसन जमा लो और मैं पल-पलमें तुम्हें निरख-निरखकर निरतशय आनन्दमें मग्न होता रहूँ।'

'फिर भगवन्! तुम्हारे लिये मैं सारे भोगोंको विषम रोग समझकर उनका भी त्याग कर दूँ और केवल तुम्हे लेकर ही मौज करूँ। इन्द्र और ब्रह्माका पद भी उस मौजके सामने तुच्छ —अति तुच्छ हो जाय।'

फिर शङ्कराचार्यकी तरह मैं भी गाया करूँ—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

'बाहरी पवित्रताकी अपेक्षा हृदयकी पवित्रता मनुष्यके चरित्रको उज्ज्वल बनानेमें बहुत अधिक सहायक होती है। मनुष्यको काम, क्रोध, हिंसा, वैर, दम्भ आदिके दुर्गन्धभरे कूड़ेको बाहर फेंककर हृदयको सदा साफ रखना चाहिये।'

'बाहरसे निर्दोष कहलानेका प्रयत्न न कर मनसे निर्दोष बनना चाहिये। मनसे निर्दोष मनुष्यको दुनिया दोषी बतलावे तो भी कोई हानि नहीं; परंतु मनमें दोष रखकर बाहरसे निर्दोष कहलाना हानिकारक है।'

'निर्दोष सत्यकार्यको किसी भय, संकोच या अल्प मतिके कारण कभी छोड़ना नहीं चाहिये। कार्यकी निर्दोषता, उसकी उपकारिता और तुम्हारी श्रद्धा, नेकनीयत तथा टेकके प्रभावसे आज नहीं तो कुछ समय बाद लोग उस कार्यको जरूर अच्छा समझेंगे।'

'अपने विरोधीको अनुकूल बनानेका सबसे अच्छा उपाय यही है कि उसके साथ सरल और सच्चा प्रेम करो। वह तुमसे द्वेष करे, तुम्हारा अनिष्ट करे तब भी तुम तो प्रेम ही करो। प्रतिहिंसाको स्थान दिया तो जरूर गिर जाओगे।'

'याद रखना चाहिये कि संसारके सुखोंकी अपेक्षा परमात्मसुख अत्यन्त विलक्षण है, अतः संसार-सुखके लिये परमात्मसुखकी चेष्टामें कभी बाधा नहीं पहुँचानी चाहिये।'

'कर्तव्यमें प्रमाद न करना ही सफलताकी कुंजी है और उसीपर परमात्माकी कृपा होती है, आलसी और कर्तव्यविमुख लोग उसके योग्य नहीं।'

'किसीके मुँहसे कोई बात अपने विरुद्ध सुनते ही उसे अपना विरोधी मत मान बैठो, विरोधका कारण ढूँढो और उसे मिटानेकी सच्चे हृदयसे चेष्टा करो। हो सकता है तुममें ही कोई दोष हो जो तुम्हें अबतक न दीख पड़ा हो अथवा वह ही बिना बुरी नीयतके ही

किसी परिस्थितिके प्रवाहमें बह गया हो। ऐसी स्थितिमें शान्ति और प्रेमसे काम लेना चाहिये।'

'अपने हृदयको सदा टटोलते रहना ही साधकका कर्तव्य है, उसमें घृणा, द्वेष, हिंसा, वैर, मान-अहंकार, कामना आदि अपना डेरा न जमा लें। बुरा कहलाना अच्छा है; परंतु अच्छा कहलाकर बुरा बने रहना बहुत ही बुरा है।'

भूल जाओ

'तुम्हारे द्वारा किसी प्राणीकी कभी कोई सेवा हो जाय तो यह अभिमान न करो कि मैंने उसका उपकार किया है। यह निश्चय समझो कि उसको तुम्हारे द्वारा बनी हुई सेवासे जो सुख मिला है सो निश्चय ही उसके किसी शुभकर्मका फल है। तुम तो उसमें केवल निमित्त बने हो, ईश्वरका धन्यवाद करो जो उसने तुम्हें किसीको सुख पहुँचानेमें निमित्त बनाया और उस प्राणीका उपकार मानो जो उसने तुम्हारी सेवा स्वीकार की। वह यदि तुम्हारा उपकार माने या कृतज्ञता प्रकट करे तो

मन-ही-मन सकुचाओ और भगवान्‌से प्रार्थना करो कि हे भगवन्! तुम्हारे कार्यमें मुझे यह झूठी बड़ाई क्यों मिल रही है? और उससे नम्रतापूर्वक कहो कि भाई! तुम ईश्वरके प्रति कृतज्ञ होओ, जिसने तुम्हारे लिये ऐसा विधान किया और पुनः-पुनः सत्कर्म करते रहो, जिनके फलस्वरूप तुम्हें बार-बार सुख ही मिले। मैं तो निमित्त-मात्र हूँ, मेरी बड़ाई करके मुझे अभिमानी न बनाओ।'

'उसपर कभी अहसान न करो कि मैंने तुम्हारा उपकार किया है। अहसान करोगे तो उसपर भारी बोझ पड़ जायगा। वह दुःखी होगा, आइन्दे तुम्हारी सेवा स्वीकार करनेमें उसे संकोच होगा। उसके अहसान न माननेसे तुम्हें दुःख होगा, तुम उसे कृतघ्न समझोगे, परिणाममें तुम्हारे और उसके दोनोंके हृदयोंमें द्वेष उत्पन्न हो जायगा। इस बातको भूल ही जाओ कि मैंने किसीकी सेवा की है।'

याद रखो

'तुम्हारे द्वारा किसी प्राणीका कभी कुछ भी

अनिष्ट हो जाय या उसे दुःख पहुँच जाय तो इसके लिये बहुत ही पश्चात्ताप करो। यह खयाल मत करो कि उसके भाग्यमें तो दुःख बदा ही था, मैं तो निमित्तमात्र हूँ, मैं निमित्त न बनता तो उसको कर्मका फल ही कैसे मिलता, उसके भाग्यसे ही ऐसा हुआ है, मेरा इसमें क्या दोष है, उसके भाग्यमें जो कुछ भी हो इससे तुम्हें मतलब नहीं। तुम्हारे लिये ईश्वर और शास्त्रकी यही आज्ञा है कि तुम किसीका अनिष्ट न करो। तुम किसीका बुरा करते हो तो अपराध करते हो और इसका दण्ड तुम्हें अवश्य भोगना पड़ेगा; उसे कर्मफल भुगतानेके लिये ईश्वर आप ही कोई दूसरा निमित्त बनाते, तुमने निमित्त बनकर पापका बोझा क्यों उठाया ?'

'याद रखो कि तुम्हें जब दूसरेके द्वारा जरा-सा भी कष्ट मिलता है, तब तुम्हें कितना दुःख होता है, इसी प्रकार उसे भी होता है। इसलिये कभी भूलकर भी किसीके अनिष्टकी भावना ही न करो, ईश्वरसे सदा यह प्रार्थना करते रहो कि 'हे भगवन्! मुझे ऐसी सद्बुद्धि

दो जिससे मैं तुम्हारी सृष्टिमें तुम्हारी किसी भी संतानका अनिष्ट करने या उसे दुःख पहुँचानेमें कारण न बनूँ।' सदैव सबकी सच्ची हित-कामना करो और यथासाध्य सेवा करनेकी वृत्ति रखो। कोढ़ी, अपाहिज, दुःखी-दरिद्रको देखकर यह समझकर कि 'यह अपने बुरे कर्मोंका फल भोग रहा है; जैसा किया था वैसा ही पाता है'—उसकी उपेक्षा न करो, उससे घृणा न करो और रूखा व्यवहार करके उसे कभी कष्ट न पहुँचाओ। वह चाहे पूर्वका कितना ही पापी क्यों न हो, तुम्हारा काम उसके पाप देखनेका नहीं है, तुम्हारा कर्तव्य तो अपनी शक्तिके अनुसार उसकी भलाई करना तथा उसकी सेवा करना ही है। यही भगवान्‌की तुम्हारे प्रति आज्ञा है। यह न कर सको तो कम-से-कम इतना तो जरूर खयाल रखो जिससे तुम्हारे द्वारा न तो किसीको कुछ भी कष्ट पहुँचे और न किसीका अनिष्ट ही हो। तुम किसीसे घृणा करके उसे दुःख पहुँचाते हो तो पाप करते हो, जिसका बुरा फल तुम्हे जरूर भोगना पड़ेगा।'

'यदि कभी किसी जीवको तुम्हारे द्वारा कुछ भी कष्ट पहुँच जाय तो उससे क्षमा माँगो, अभिमान छोड़कर उसके सामने हाथ जोड़कर उससे दया-भिक्षा चाहो, हजार आदमियोंके सामने भी अपना अपराध स्वीकार करनेमें संकोच न करो, परिस्थिति बदल जानेपर भी अपनी बात न बदलो, उसे सुख पहुँचाकर उसकी सेवा करके अपने प्रति उसके हृदयमें सहानुभूति और प्रेम उत्पन्न कराओ। यह खयाल मत करो कि कोई मेरा क्या कर सकता है ? मैं सब तरहसे बलवान् हूँ, धन, विद्या, पद आदिके कारण बड़ा हूँ। वह कमजोर-अशक्त मेरा क्या बिगाड़ सकेगा ? ईश्वरके दरबारमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। वहाँके न्यायपर तुम्हारे धन, विद्या और पदोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। कमजोर-गरीबकी दुःखभरी आह तुम्हारे अभिमानको चूर्ण करनेमें समर्थ होगी। तुम्हारे द्वारा दूसरेके अनिष्ट होनेकी छोटी-से-छोटी घटना भी तुम्हारे हृदयमें सदा शूलकी तरह चुभने चाहिये, तभी तुम्हारा हृदय शीतल होगा और तुम पापमुक्त हो सकोगे।'

भूल जाओ

'दूसरेके द्वारा तुम्हारा कभी कोई अनिष्ट हो जाय तो उसके लिये दुःख न करो; उसे अपने पहले किये हुए बुरे कर्मका फल समझो, यह विचार कभी मनमें मत आने दो कि 'अमुकने मेरा अनिष्ट कर दिया है,' यह निश्चय समझो कि ईश्वरके दरबारमें अन्याय नहीं होता, तुम्हारा जो अनिष्ट हुआ है या तुमपर जो विपत्ति आयी है, वह अवश्य ही तुम्हारे पूर्वकृत कर्मका फल है, वास्तवमें बिना कारण तुम्हें कोई कदापि कष्ट नहीं पहुँचा सकता। न यही सम्भव है कि कार्य पहले हो और कारण पीछे बने, इसलिये तुम्हें जो कुछ भी दुःख प्राप्त होता है, सो अवश्य ही तुम्हारे अपने कर्मोंका फल है; ईश्वर तो तुम्हें पापमुक्त करनेके लिये दयावश न्यायपूर्वक फलका विधान करता है। जिसके द्वारा तुम्हें दुःख पहुँचा है उसे तो केवल निमित्त समझो; वह बेचारा अज्ञान और मोहवश निमित्त बन गया है; उसने तो अपने ही हाथों

अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मारी है और तुम्हें कष्ट पहुँचानेमें निमित्त बनकर अपने लिये दुःखोंको निमन्त्रण दिया है; यह तो समझते ही होंगे कि जो स्वयं दुःखोंको बुलाता है वह बुद्धिमान् नहीं है, भूला हुआ है; अतः वह दयाका पात्र है। उसपर क्रोध न करो, बदलेमें उसका बुरा न चाहो, कभी उसकी अनिष्टकामना न करो, बल्कि भगवान्‌से प्रार्थना करो कि हे भगवन्! इस भूले हुए जीवको सन्मार्गपर चढ़ा दो। इसकी सद्‌बुद्धिको जाग्रत् कर दो; इसका भ्रमवश किया हुआ अपराध क्षमा करो।'

'सम्भव है कि उससे किसी परिस्थितिमें पड़कर भ्रमसे ऐसा काम बन गया हो, जिससे तुम्हें कष्ट पहुँचा हो, परन्तु अब वह अपने कियेपर पछताता हो, उसके हृदयमें पश्चात्तापकी आग जल रही हो और वह संकोचमें पड़ा हुआ हो, ऐसी अवस्थामें तुम्हारा कर्तव्य है कि उसके साथ प्रेम करो, अच्छे-से-अच्छा व्यवहार करो। उससे स्पष्ट कह दो कि 'भाई! तुम पश्चात्ताप

क्यों कर रहे हो? तुम्हारा इसमें दोष ही क्या है? मुझे जो कष्ट प्राप्त हुआ है सो मेरे पूर्वकृत कर्मका फल है। तुमने तो मेरा उपकार किया है जो मुझे अपना कर्मफल भुगतनेमें कारण बने हो, संकोच छोड़ दो। तुम्हारे सच्चे हृदयकी इन सच्ची बातोंसे उसके हृदयकी आग बुझ जायगी, वह चेतेगा, आइन्दे किसीका बुरा न करेगा। यदि वास्तवमें कुबुद्धिवश उसने जानकर ही तुम्हें कष्ट पहुँचाया होगा और इस बातसे उसके मनमें पश्चात्तापके बदले आनन्द होता होगा तो तुम्हारे अच्छे बर्ताव और प्रेम-व्यवहारसे उसके हृदयमें पश्चात्ताप उत्पन्न होगा, तुम्हारी महत्ताके सामने उसका सिर आप ही झुक जायगा। उसका हृदय पवित्र हो जायगा। यह निश्चय है। कदाचित् ऐसा न हो तो भी तुम्हारा कोई हर्ज नहीं, तुम्हारा अपना मन तो सुन्दर प्रेमके व्यवहारसे शुद्ध और शीतल रहेगा ही।'

'उसके प्रति द्वेष कभी न करो। द्वेष करोगे तो तुम्हारे मनमें वैर, हिंसा आदि अनेक नये-नये पापोंके

संस्कार पैदा हो जायँगे, उसका मन भी शुद्ध नहीं रहेगा, उसमें पहले वैर न रहा होगा तो अब तुम्हारे असद्व्यवहारसे पैदा हो जायगा। द्वेषाग्निसे दोनोंका हृदय जलेगा, वैर-भावना परस्पर दोनोंको दुःखी करेगी और पाप-पङ्कमें डालेगी। अतएव इस बातको सर्वथा भूल जाओ कि अमुकने कभी मेरा कोई अनिष्ट किया है।'

× × × ×

याद रखो

'दूसरेके द्वारा तुम्हारा तनिक-सा भी उपकार या भला हो अथवा तुम्हें सुख पहुँचे तो उसका हृदयसे उपकार मानो, उसके प्रति कृतज्ञ बनो, यह मत समझो कि यह काम मेरे प्रारब्धसे हुआ है, इसमें उसका मेरे ऊपर क्या उपकार है, वह तो निमित्तमात्र है।' बल्कि यह समझो कि उसने निमित्त बनकर तुमपर बड़ी ही दया की है। उसके उपकारको जीवनभर स्मरण रखो, स्थिति बदल जानेपर उसे भूल न जाओ और सदा उसकी सेवा

करने तथा उसे सुख पहुँचानेकी चेष्टा करो; काम पड़नेपर हजारों आदमियोंके सामने भी उसका उपकार स्वीकार करनेमें संकोच न करो; ऐसा करनेसे परस्पर प्रेम बढ़ेगा, आनन्द और शान्तिकी वृद्धि होगी, लोगोंमें दूसरोंको सुख पहुँचानेकी प्रवृत्ति और इच्छा अधिकाधिक उत्पन्न होगी; सहानुभूति और सेवाके भाव बढ़ेंगे। याद रखो कि उपकार या सेवा करनेवालेके प्रति कृतज्ञ होकर मनुष्य जगत्‌की एक बड़ी सेवा करता है, क्योंकि इससे उपकार करनेवालेके चित्तको सुख पहुँचता है, उसका उत्साह बढ़ जाता है और उसके मनमें उपकार या सेवा करनेकी भावना और भी प्रबल हो उठती है। कृतज्ञके प्रति परमात्माकी प्रसन्नता और कृतघ्नके प्रति कोप होता है। इससे कृतज्ञ बनो और उपकारीके उपकारको कभी न भूलो।'

'हमें जो दूसरोंमें दोष दिखायी देते है, इसका प्रधान कारण अक्सर हमारे चित्तकी दूषित वृत्ति ही होती है। अपने चित्तको निर्दोष बना लो, फिर जगत्‌में दोषी

बहुत ही कम दीखेंगे।'

'अपने दोषोंको देखनेकी आदत डालो, बड़ी सावधानीसे ही अपने मनके दोषोंको देखो, तुम्हें पता लगेगा कि तुम्हारा मन दोषोंसे भरा है, फिर दूसरोंके दोष देखनेकी तुम्हें फुरसत नहीं मिलेगी।'

'मनके पैदा होनेवाले प्रत्येक संकल्पके साथ राग-द्वेष रहता है, उसीके अनुसार वह सुख या दुःखका अनुभव करता है तथा इसी राग-द्वेषके कारण दूसरोंमें गुण या दोष दीखते हैं। जिसमें राग होता है, उसके दोष भी गुण दीखते हैं और जिसमें द्वेष होता है, उसका गुण भी दोष दीखता है। राग-द्वेषका चश्मा उतरे बिना किसीके यथार्थ रूपकी जानकारी नहीं हो सकती।'

'मनमें उठनेवाली प्रत्येक स्फुरणाके द्रष्टा बन जाओ, स्फुरणाओंका शीघ्र ही नाश हो जायगा; मनको वशमें करनेका यह बहुत सुन्दर तरीका है। इसी प्रकार राग-द्वेषके द्रष्टा बननेसे राग-द्वेषके नष्ट होनेमें सहायता मिलेगी।'

'जीवन बहुत थोड़ा है, सबसे प्रेमपूर्वक हिल-मिलकर चलो, सबसे अच्छा बर्ताव करो, अमृतका विस्तार कर जाओ, विषकी बूँद भी कहीं न डालो। तुम्हारा प्रेमपूर्ण व्यवहार अमृत है और द्वेषपूर्ण व्यवहार ही विष है।'

'घंटेभरके लिये भी कोई आदमी तुमसे मिले तो अपने प्रेमपूर्ण सरल व्यवहारसे उसके हृदयमें अमृत भर दो, सावधान रहो, तुम्हारे पाससे कोई विष न ले जाय। हृदयसे विषको सर्वथा निकालकर अमृत भर लो और पद-पदपर केवल वही अमृत वितरण करो।'

'वर्ण, जाति, विद्या, धन या पदमें बड़े हो, इसीलिये अपनेको बड़ा मत समझो; याद रखो, सबमें एक ही राम रम रहा है। छोटा-बड़ा व्यवहार है न कि आत्मा।'

'व्यवहारमें सब प्रकारकी समता असम्भव और हानिकर है, इससे व्यवहारमें आवश्यकतानुसार विषमता रखते हुए भी मनमें समता रखो। आत्मरूपसे

सबको एक-सा समझो। किसीको अपनेसे छोटा समझकर उससे घृणा न करो, न अपनेमें बड़प्पनका अभिमान ही आने दो।'

'बड़ा वही है, जो अपनेको सबसे छोटा मानता है। यह मन्त्र सदा स्मरण रखो।'

'ईश्वर सदा-सर्वदा तुम्हारे साथ है, इस बातको कभी न भूलो। ईश्वरको साथ जाननेका भाव तुम्हें निर्भय और निष्पाप बनानेमें बड़ा मददगार होगा। यह कल्पना नहीं है, सचमुच ही ईश्वर सदा सबके साथ है।'

'ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास बढ़ाओ, जिस दिन ईश्वरकी सत्ताका पूर्ण निश्चय हो जायगा, उस दिन तुम पापरहित और ईश्वरके सम्मुख हुए बिना नहीं रह सकोगे।'

'अपनेको सदा बलवान्, नीरोग, शक्तिसम्पन्न और पवित्र बनाओ, ऐसा बनानेके लिये यह निश्चय करना होगा कि मैं वास्तवमें ऐसा ही हूँ। असलमें बात भी यही है। तुम शरीर नहीं, आत्मा हो। आत्मा

सदा ही बलवान्, नीरोग, शक्तिसम्पन्न और पवित्र है; देहको 'मैं' माननेसे ही निर्बलता, बीमारी, अशक्ति और अपवित्रता आती है।'

'देहको 'मैं' मानकर कभी अपनेको बलवान्, नीरोग, शक्ति-सम्पन्न और पवित्र मत समझो, यों समझोगे तो झूठा अभिमान बढ़ेगा; क्योंकि देहमें ये गुण हैं ही नहीं।'

'देहाभिमान ही पाप है और यही सबसे बड़ी अपवित्रता है। या तो अपनेको ईश्वरका पवित्र अभिन्न अंश आत्मा मानो या उस प्राणेश्वर प्रभुका दास मानो, आत्मा तो पवित्र और बलवान् है ही, प्रभुका दास भी स्वामीकी सत्तासे, मालिकके बलसे मालिकके समान ही पवित्र और बलवान् बन जाता है।'

'ईश्वरकी कभी सीमा न बाँधो, वह अनिर्वचनीय है, साकार भी है, निराकार भी है तथा दोनोंसे विलक्षण भी है। भक्त उसे जिस भावसे भजता है, वह उसी भावमें प्रत्यक्ष है; यही तो ईश्वरत्व है।'

'ईश्वरका स्वरूप या सृष्टिरचनाके सिद्धान्तका निर्णय करनेके बखेड़ेमें न पड़कर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किसी भी एक मार्गको पकड़कर आगे बढ़ना शुरू कर दो। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ोगे, रहस्य आप ही खुलता जायगा। चलना शुरू न कर, व्यर्थ ही निर्णयमें लगे रहोगे तो किसी-न-किसीके मतके आग्रही बनकर जीवनको लड़ाई-झगड़ेमें ही व्यर्थ खो दोगे, तत्त्वकी प्राप्ति शास्त्रार्थसे नहीं होती, गुरुदेवकी सेवा और उनके बतलाये हुए मार्गपर श्रद्धापूर्वक चलनेसे ही होती है।'

'भोगोंमें वैराग्य करो, वैराग्यके लिये चार बातें आवश्यक हैं—जगत्‌में रमणीयता, सुख, स्नेह और सत्ताका त्याग। परमात्मामें राग करो, उसमें ये चारों बातें पूर्ण हैं, इनका अनुभव करो।'

'कुसङ्गसे सदा बचना चाहिये और सत्सङ्गका आश्रय लेना चाहिये। विषयी पुरुषोंका सङ्ग तो बहुत ही हानिकर है। चेतनकी तो बात ही क्या है, मनको लुभानेवाली और इन्द्रियोंको आकर्षित करनेवाली जड भोग्य वस्तुओंका सङ्ग भी त्याज्य है।'

'ईश्वरके विरोधकी बात कभी भूलकर भी न कहनी चाहिये, न सुननी चाहिये, यह सबसे बड़ा अपराध है।'

'मनसे राग-द्वेषको निकालकर अनासक्तभावसे इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करना चाहिये, न कि राग-द्वेषयुक्त होकर तथा इन्द्रियोंके गुलाम बनकर, इन्द्रियोंको गुलाम बनाकर उनसे काम लो। उनके गुलाम बनकर उनके कहनेमें न चलो।'

'साधकके लिये सबसे बड़ा प्रतिबन्धक कीर्तिकी चाह है। धन और स्त्रीका छोड़ना सहज है; परंतु कीर्तिका लोभ छोड़ना बहुत ही मुश्किल है।'

'सुख तुम्हारे मनमें है, न कि किसी कार्य या वस्तुविशेषमें, चित्त शान्त है तो सुख है, नहीं तो दुःख-ही-दुःख है। चित्तकी शान्तिके लिये जगत्‌की कामनाओंका त्याग जरूरी है।'

'जो कुछ भी कार्य करो, भगवान्‌की सेवा

समझकर उन्हींके लिये करो, दयानिधान प्रभुकी अपने ऊपर परम कृपा समझो, उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास रखो और तुम्हारे कार्यका जो कुछ भी परिणाम हो, उसे मङ्गलमय भगवान्‌की इच्छा समझकर आनन्दसे सिर चढ़ाओ।'

'जीवन बीता जा रहा है, हम पल-पलमें मृत्युकी ओर बढ़ रहे हैं, बहुत ही जल्दी जीवन खत्म होगा, यह समझकर अगली यात्राके लिये यहाँका काम निपटाकर सदा कमर कसे तैयार रहो। जगत्‌की आसक्ति सर्वथा त्यागकर परमात्मासे मिलनेकी तीव्र इच्छा करना ही कमर कसकर तैयार होना है।'

'जगत्‌में नाटकके पात्रकी तरह रहो, अपना पार्ट पूरा करनेमें कभी चूको मत और किसी भी पदार्थको कभी अपना समझो मत। पार्ट करनेमें चूकना नमकहरामी और किसीको अपना मानना बेईमानी है। समझो नाटक, परंतु लोकदृष्टिमें अभिनय करो सत्य-सा समझकर ही।'

'गुण-दोष सबमें रहते हैं, भूल सभीसे होती है। यदि तुम किसीका कोई काम देखते ही उसमें दोष ढूँढ़ने लगोगे तो तुम्हारी वृत्ति आगे चलकर बहुत दूषित हो जायगी, तुम्हें अच्छे-से-अच्छे कामोंमें भी दोष ही दीखेगा। खुद जलोगे और दूसरोंको जलाओगे। इसके बदलेमें यदि तुम गुण देखोगे तो तुम्हारी वृत्ति सात्त्विक होगी, प्रसन्नता बढ़ेगी, शान्ति मिलेगी। सबमें गुण देखनेकी आदत डालो, देखो कितना आनन्द मिलता है।'

'किसीकी भूल न ढूँढो; भूल दीखे तो उसे भूल जाओ, उसके अच्छे हेतु, परिश्रम और लगनकी हृदयसे कद्र करो; उसके कार्यमें गुणोंको ढूँढ़ो। भलाईकी खोज करो। तुम गुणवान् और भले आदमी बन जाओ।'

'इज्जतदार बनो सच्ची इज्जत क्या है, पहले इस बातको जानो। अन्यायसे धन कमाकर भी धनके

बलसे मनुष्य इस दुनियामें इज्जतदार कहला सकता है, परंतु परमात्माके यहाँ उसकी कोई इज्जत नहीं है। यहाँ दरिद्रतासे जीवन बितानेवाला संसारकी नजरमें गिरा हुआ मनुष्य भी यदि धर्मके पथसे नहीं डिगता, तो वही सच्चा इज्जतदार है।'

'मान-बड़ाईके मोलमें धर्मको न दो, मान-बड़ाईको पैरोंतले कुचल डालो, पर धर्मका बचाओ।'

'धन, मकान, मनुष्य, शरीर आदिके बलपर न इतराओ, यह सारा बल पलभरमें नष्ट हो सकता है, सच्चा बल ईश्वरीय बल है, उसीको अर्जन करो।'

जहाँ अस्पताल और वैद्य-डाक्टर ज्यादा हैं, समझो कि वहाँके मनुष्योंका शारीरिक पतन हो चुका है। जहाँ वकील ज्यादा हों और कचहरीमें भीड़ रहती हो, समझो कि वहाँके मनुष्योंकी ईमानदारी प्रायः नष्ट हो चुकी है और जहाँ गंदा साहित्य बिकता

हो, समझो कि वहाँ लोगोंका नैतिक पतन हो चुका है।'

'केवल दवा और अस्पतालोंसे ही रोगोंका समूल नाश नहीं होता। रोगोंका समूल नाश तो इन्द्रियसंयम और मनकी शुद्धि होनेपर होता है। इन्द्रियसंयम और मनःशुद्धि ऐसी दवा है कि इनसे शारीरिक स्वास्थ्य तो मिलता ही है, पारमार्थिक स्वास्थ्यकी भी प्राप्ति होती है। अतः इन्द्रियोंको वशमें करने और मनको शुद्ध बनानेका निरन्तर प्रयत्न करते रहो।'

'सत्सङ्गसे इन्द्रियसंयम और मनकी शुद्धि होती है। अतः कुसङ्गका त्याग कर सत्सङ्गका सेवन करो।'

'वकील और कचहरियोंसे ही झगड़ोंकी जड़ नहीं कटती, झगड़ोंकी जड़ काटनेके लिये तो सबसे अधिक जरूरी बात है ईमानदारी। यदि मनुष्य

दूसरेका हक मारनेकी इच्छा छोड़ दे तो झगड़ा हो ही नहीं।'

भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका मुख्य उद्देश्य है, इस बातको स्मरण रखना चाहिये। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे ही होती है, किसी साधनसे नहीं।'

'साधनाका अहंकार कभी न रखो, भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवदर्थ भजन-ध्यान करनेमें प्राणपणसे लगे रहो; परंतु अपने हृदयमें साधकपनका अभिमान पैदा न होने दो।'

'भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास रखो, तुम्हारे मनमें जितना-जितना भगवान्‌का विश्वास अधिक होगा, तुम उतना ही भगवान्‌की ओर आगे बढ़ सकोगे।'

'सच्चे भक्तोंका एकमात्र बल भगवान्‌का भरोसा ही है। वे पूर्ण निर्भरताके साथ भगवान्‌के होकर अपना जीवन केवल भगवान्‌के चिन्तनमें ही लगाया करते है।'

'जितना भरोसा बढ़ेगा, उतनी ही भगवत्कृपाकी झाँकी प्रत्यक्ष दीखेगी।'

'यह याद रखो कि भगवान्‌के समान सुहृद्, दयालु, प्रेमी, सुन्दर, ऐश्वर्यवान् और कोई भी नहीं है एवं वह तुम्हारा नित्य साथी है। तुम्हें हृदयसे लगानेके लिये सदा ही हाथ फैलाये तैयार है।'

'संसारमें जो कुछ देखते हो सो सब उसीका है, उसीका नहीं, वही सब कुछ बना हुआ है। यह जो कुछ हो रहा है सो सब उसकी लीला है। वह आप ही अपनेमें खेल कर रहा है।'

'सर्वभावसे उसकी शरण हुए बिना यह रहस्य समझमें नही आवेगा। सब प्रकारके अभिमानको छोड़कर उसकी शरण हो जाओ, उसकी कृपापर दृढ़ भरोसा रखो, सारी चिन्ताओंको छोड़कर सब कुछ उसके चरणोंपर चढ़ा दो।'

'उसके चिन्तनमें चित्त रखो, उसकी प्रत्येक देनको सिर चढ़ाकर आनन्दसे स्वीकार करो, उसकी हरेक आज्ञाका हृदयसे पालन करो और उसपर अनन्य निर्भर होकर माँगनेकी वासनाको ही त्याग दो।'

'उससे माँगना ही ठगाना है। कारण, वह परम सुहृद् भगवान् हमारा जितना हित सोच सकता है, उतना सोचनेके लिये हमारी बुद्धि कभी समर्थ ही नहीं है।'

'एक दिन अवश्य मर जाना है, इस बातको भूलो मत, मृत्युके भयानक दृश्यको याद रखो, मरते हुए मनुष्यके शरीरकी घृणित दशाका स्मरण करो, उसके दुःखसे भरे हुए निराश नेत्रोंकी भयानकताका ध्यान करो, एक दिन तुम्हारी भी यही दशा होनेवाली है।'

'मृत्युकी भीषणतासे एक बार भय होगा,

विषाद होगा, जगत्में अन्धकार दीखेगा, निराशा होगी; पर इससे घबराओ मत, यह निराशा ही तुम्हारे परम सुखका कारण होगी, इसीमें तुम परमात्माकी झाँकी कर सकोगे।' **'नैराश्यं परमं सुखम्।'**

'भगवान्पर कभी अविश्वास न करो, यह सबसे बड़ा पाप है। भगवान्के नामपर विश्वास रखो। याद रखो, नामके बारेमें संतोंका एक-एक वचन सच्चा है। नामकी शरण लेकर परीक्षा कर देखो।'

——::o::——

सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(नित्यलीलालीन श्रीभाईजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन किये हुए)

मानव-जीवन भगवान्‌का बननेके लिये प्राप्त हुआ है हम वास्तवमें भगवान्‌के हैं, पर हमने अपनेको काम-क्रोध आदिका गुलाम बना रखा है। यही मूर्खता है। जो भगवान्‌का बना, उसका जीवन सार्थक; जो जगत्‌का बना, उसका जीवन सार्थक नहीं, निरर्थक।

किसी भी साधनासे हो, किसी भी प्रकारसे हो, करना है एक ही काम—भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग। भगवान्‌के चरणोंमें उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता रहे, इसीमें जीवनकी सार्थकता है। अतएव भगवान्‌के प्रति प्रेमकी लालसा जगानी चाहिये। इसके लिये प्रेमस्वरूप भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और जहाँतक बने, प्रेम प्राप्त करनेके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

सच्चे मनसे, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌से माँगनेपर कोई भी संकट रह नहीं सकता। प्रार्थनाके

समय मनमें यह भाव होना चाहिये कि 'भगवान् मेरा यह संकट दूर कर दें' और प्रार्थनामें आर्तभाव होना चाहिये तथा यह विश्वास होना चाहिये कि 'इस संकटको भगवान् दूर कर ही देंगे'। जो भगवान्‌से भगवान्‌का प्रेम ही चाहते है, वे तो सर्वोत्तम हैं; पर जो पापमें रत हैं, पापसे पैसा बटोरते हैं, वे यदि भगवान्‌से कुछ माँगें तो यह बुरा नहीं है। जगत्‌से, पापसे माँगनेकी अपेक्षा भगवान्‌से माँगना कहीं श्रेयस्कर है।

नाम-जपसे जो भी ऊँची-से-ऊँची स्थिति अन्य किसी साधनसे प्राप्त हो सकती है, वह प्राप्त हो जाती हैं—यह मेरा विश्वास है।

साधककी वृत्ति उत्तरोत्तर भगवान्‌के नाम-रूप-गुण-चिन्तनमें ही लगती जाय। आरम्भमें वृत्ति दूसरी ओर जाती है; पर उसमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि वह या तो उधर जाय ही नहीं और यदि जाय तो भगवान्‌की सेवाकी भावनासे ही। भगवान्‌की

सेवाकी भावनाके अतिरिक्त दूसरे किसी भी भावसे वृत्तिका जाना नीचे स्तरका है।

मन वृत्तियोंका समूह है। वृत्ति जब एक विषयमें जाकर उसके रूपकी हो जाती है, तब उसको 'ध्यान' कहते हैं।

शरीरका आराम, नामका नाम और जीभका स्वाद—साधकके लिये ये तीन बड़े विघ्न हैं।

भगवान्‌के प्रति कई भाव हो सकते हैं। सर्व-साधारणके लिये सीधा सरल भाव है—भगवान्‌के प्रति स्वामीका भाव। 'भगवान् मेरे स्वामी, मैं उनका दास'—यह सर्वथा एवं सर्वदा निर्दोष भाव है; इसमें कहीं भी पतनकी गुंजाइश नहीं हैं।

दूसरा भाव है—भगवान्‌को अपना सखा मानना। यह भाव दास्य-भावसे ऊँचा है। इस भावमें मानसिक रूपसे सदा-सर्वत्र भगवान्‌के साथ रहे और भगवान्‌की लीलाका चिन्तन करे। इसमें भगवान्‌के बालस्वरूपका या पार्थसखारूपका चिन्तन करे।

तीसरा भाव है—भगवान्‌को अपना बालक मानकर उनकी लीलाको देखे, अर्थात् भगवान्‌के प्रति वात्सल्यभाव। भगवान्‌ने बालपनेमें जो-जो लीलाएँ की हैं, उन-उन लीलाओंका चिन्तन करे। बस, भगवान्‌की उन लीलाओंके प्रति मनमें अनुराग हो तथा उन्हें सर्वथा सत्य माने।

चौथा भाव है—मधुर भाव, अर्थात् भगवान्‌को अपने प्रियतमरूपमें अनुभव करे। 'गोपी-भाव' इसीका नाम है। गोपी-भावके कई स्तर हैं, जिनमें मञ्जरी-भाव सर्वोत्तम है। श्रीराधामाधव मञ्जरीके इष्ट हैं और श्रीराधामाधवके सुखका आयोजन करना मञ्जरीका जीवन। मञ्जरीपर श्रीराधारानीकी सबसे बड़ी कृपा रहती है और इसीसे श्रीकृष्ण उसपर कृपा करनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं।

इससे भी एक ऊँचा भाव है—श्रीराधामाधवने मुझे अपनेमें विलीन कर लिया है, उन्होंने अपने

अङ्गोंमें मुझे प्रवेश करा लिया है। वहाँ पहले श्रीराधामाधवकी एकता अनुभव होती है, पीछे साधककी एकता हो जाती है।

सेवा वह उत्तम होती है, जिसमें सेवकका नामतक सेव्यको ज्ञात न हो सके।

अभिमानका स्वभाव है—अपमान करना। अभिमानीसे अपमान किये बिना नहीं रहा जाता—चाहे जिस क्षेत्रमें देख लिया जाय।

जिस प्रकारके वातावरणका हम सेवन करेंगे मनसे, शरीरसे, वाणीसे—वैसा ही बननेकी हमारी इच्छा होगी। सङ्गसे वृत्ति, वृत्तिसे क्रिया और क्रियासे स्वरूप बनता है।

आज हम धर्मके नामसे लजाते है। भगवान्‌को माननेवाले भी समाजमें, सबके सामने अपनेको भगवान्‌को माननेवाला कहनेमें लज्जा अनुभव करते हैं।

साधककी यह वृत्ति रहती है कि वह भोगियोंसे

सर्वथा उलटा चलता है। भोगी साधककी वृत्तिको समझते नहीं और वे उसे भ्रमित मानते है; पर साधक उनकी इस मान्यतासे उद्वेग नहीं करता, वह अन्तरमें प्रसन्न होता है।

साधक और भोगीके दृष्टिकोणमें बड़ा अन्तर होता है। भोगी भोगोंमें ही जागता-सोता है और साधक भोगोंके त्यागमें ही जागता-सोता है।

साधकका यह स्वरूप है कि वह भोगोंसे स्वाभाविक अपनी चित्तवृत्तिको हटाये।

भोगी जिन चीजोंको चाहता है तथा ग्रहण करता है—सुखके लिये, साधक उन चीजोंके ग्रहणसे घबराता है। उसे उन चीजोंके ग्रहणमें दुःख अनुभव होता है। भोगीको मान अमृतके समान लगता है और साधकको मान विषके समान। भोगीको प्रशंसा बड़ी सुखकर प्रतीत होती है और साधकको प्रशंसा अग्निके सदृश।

साधकका आदर्श त्यागी है, भोगी नहीं।

इसीसे साधक भोगीद्वारा प्रलोभन दिये जानेपर भी भोगोंको स्वीकार नहीं करता।

वृन्दावनवासका बड़ा माहात्म्य है, पर वृन्दावनमें केवल रहना वृन्दावनवास नहीं है; वृन्दावनवासका अर्थ है—जीवनका श्रीकृष्णमय हो जाना।

पर्देपर चित्रित गहनोंको देखकर उसके प्रति आसक्ति, प्रलोभन नहीं जागता। यह संसार, यहाँके भोग-पदार्थ पर्देपरके गहने हैं—यह प्रतीति हो जाय तो स्वाभाविक ही इनके प्रति आसक्ति-उपेक्षा हो जायगी।

भगवान्‌पर हमारा विश्वास दृढ़ हुआ कि नहीं, इसकी कसौटी है—भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें मङ्गलबुद्धि हुई कि नहीं तथा दुःखमें भगवान्‌का संस्पर्श अनुभव होता है कि नहीं। जबतक भगवान्‌के किसी भी विधानसे मनपर विषाद-चिन्ता आती है, तबतक यह स्पष्ट है कि हमारा भगवान्‌पर विश्वास दृढ़ नहीं हुआ है।

जितने भी भगवत्प्राप्त महापुरुष हुए हैं, उन सबकी स्थितियाँ पृथक्-पृथक् है; पर तत्त्वतः सभीने एक ही सत्यको प्राप्त किया है। साधनकालमें मार्गकी भिन्नता रहती है—जैसे किसीमें ज्ञान प्रधान होता है, किसीमें भक्ति, किसीमें निष्काम कर्म तथा किसीमें योग-साधन। पर सबका प्राप्तव्य एक ही भगवान् है। अतएव महापुरुष सभी साधनोंका आदर करते है; पर जिस साधनद्वारा वे वहाँतक पहुँचे हैं, उसीका वे विशेषरूपमें समर्थन करते हैं, कारण उस साधनका उन्हें व्यावहारिक ज्ञान अधिक है।

जगत्‌का कोई भी सौन्दर्य न स्थायी है और न वर्धनशील; वह अनित्य है, विनाशी है, क्षणभङ्गुर है, अपूर्ण है। भगवान्‌का सौन्दर्य नित्य है तथा पूर्णतम होते हुए भी नित्य वर्धनशील है।

भगवान्‌के आश्रयके लिये आवश्यकता है—दैन्यकी। 'दैन्य'का अर्थ है—अभिमान-शून्यता। हममें नाना प्रकारके अभिमान भरे हैं—जैसे धनका

अभिमान, पदका अभिमान, साधनका अभिमान, ज्ञानका अभिमान, त्यागका अभिमान, सेवा करनेका अभिमान आदि। जहाँ-जहाँ अभिमानका उदय होता है, वहाँ-वहाँ भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है। पर भक्तोंका यह अभिमान कि 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं, भगवान्‌की मुझपर अपार कृपा है'—वास्तवमें अभिमान नहीं है। यह एक परम सात्त्विक मान्यता है, जो साधनाका आधार है।

भगवान्‌की सब शक्तियोंमें कृपाशक्ति प्रधान है। जहाँ उनकी कृपाशक्ति चरितार्थ होती है, वहाँ उनकी अन्य सब शक्तियाँ कृपाशक्तिके अनुगत होकर कार्य करती है। हमारा अभिमान भगवान्‌की कृपाका अनुभव नहीं होने देता। अतएव सबसे पहले अपने अहंकारका ही शमन करना है।

संसारका सौन्दर्य सर्वथा मिथ्या है, पर सुखकी छिपी आशासे हम संसारके मिथ्या सौन्दर्यके प्रति लुब्ध हो रहे हैं। संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थमें

सौन्दर्य नहीं है—इस सत्यपर विश्वास करके हम अपनी भ्रान्तिसे जितनी जल्दी छुट्टी पा लें, उसीमें हमारा भला है।

कोई अपनी किसी साधनासे भगवान्‌को खरीदना चाहे तो यह उसकी मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके विनिमयमें भगवान् मिल सकें। भगवान् मिलते हैं अपनी सहज कृपासे ही। कृपापर विश्वास नहीं तथा कृपाको ग्रहण करनेका दैन्य नहीं है। ऐसी स्थितिमें कैसे काम बने? 'मैंने अभिमानका त्याग कर दिया, मुझमें अभिमान नहीं है'—इन उक्तियोंमें भी अभिमानकी सत्ता विद्यमान है।

'दैन्य' भक्तकी शोभा है। यह उसका पहला लक्षण है। भक्त अपनेको सर्वथा अकिंचन—अभावग्रस्त पाता है और भगवान्‌को यही चाहिये। बस, भगवान् ऐसे भक्तके सामने प्रकट हो जाते हैं।

भगवान्‌का बल निरन्तर हमारे पास रहनेपर भी

सक्रिय नहीं होता, इसका कारण है कि हम उसे स्वीकार नहीं करते। जब भी हम भगवान्‌के बलको अनुभव करने लगेंगे, तभी वह बल सक्रिय हो जायगा और हम निहाल हो जायँगे।

हमारी भोगोंमें सुखकी आस्था इतनी दृढ़मूल हो रही है कि वैराग्यके शब्दोंसे वह दूर नहीं होती। किसी महान् विपत्तिका प्रहार तथा भगवान् अथवा उनके किसी प्रेमीजनकी कृपा ही इस आस्थाको दूर कर सकते हैं।

शरणागत वही हो पाता है, जो दीन है। जिसे अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, योग्यताका अभिमान है, वह किसीके शरण क्यों होना चाहेगा। जब अपना सारा बल, बलोंकी आशा-भरोसा टूट जाते हैं, तब वह भगवान्‌की ओर ताकता है और उनका आश्रय चाहता है।

शरणागतमें दो चीजें अनिवार्यरूपसे आती हैं—निर्भयता एवं निश्चिन्तता। जबतक भय एवं चिन्ता बने हैं, तबतक न तो अपने दैन्यपर विश्वास हुआ है और न भगवान्‌की शरणागत-वत्सलतापर। बिना इन दोनों चीजोंपर विश्वास हुए काम बनना असम्भव है।

भगवान्‌की कृपा दीनोंकी सम्पत्ति है। हम दीन हो जायँ तो भगवत्कृपापर हमारा स्वाभाविक अधिकार हो जाय।

भजन-साधन करना चाहिये, पर इनका अभिमान मनमें न जगे, इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये। भजन-साधनके होनेमें भगवान्‌की कृपाको ही हेतु माने। भगवान्‌की कृपाका निरन्तर स्मरण रहे और अपने पुरुषार्थकी विस्मृति; बस, काम बन जाता है।

जो जितना दीन है, उसमें भगवान्‌की कृपाशक्तिका उतना ही अधिक प्रकाश है। 'दैन्य' भगवान्‌की कृपाके प्राकट्यके बीच लगे पर्देको फाड़ डालता है।

जैसे ब्रह्माजीकी वाणी एक 'द' तीन अर्थ

रखती है, वैसे ही गीता भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी है। उसके अनेक अर्थ अधिकारी-भेदसे होते है। यही हेतु है कि विभिन्न आचार्यों, टीकाकारोंने गीताके अर्थ पृथक्-पृथक् किये हैं। अधिकारी-भेदसे उन सब अर्थोंका सामञ्जस्य है।

भगवान्‌की कृपा अधिकारी-भेदकी अपेक्षा नहीं रखती। वह केवल देखती है कि यह एकमात्र कृपाका आकाङ्क्षी है. कि नहीं।

भगवान्‌की कृपा सबकी सम्पत्ति है, पर दीनोंकी सम्पत्ति विशेषरूपसे है; क्योंकि भगवान् 'दीनवत्सल' हैं।

अबोध बालक, जो बोलना नहीं जानता, किसी प्रकारका संकेत करना नहीं जानता, वह रोकर ही मनोव्यथा व्यक्त करता है। इसी प्रकार जिसके पास रोनेके सिवा कोई साधन नहीं, वह भगवान्‌के सामने कातर होकर रोये। जगत्‌के सामने रोना अशुभ है, कायरता है; भगवान्‌के सामने रोना परम

मङ्गलकारी है एवं परम बलका द्योतक है।

भगवान्‌की कृपापर भरोसा करके दीनभावसे भगवान्‌के शरणापन्न हो जाना चाहिये। जब हम भगवान्‌के शरणापन्न हो जाते हैं और भगवान् पास आ जाते है, तब उनके दैवी गुण स्वतः हममें आविर्भूत होते हैं। फिर बन्धनोंको काटना नहीं पड़ता, बन्धन अकुलाकर स्वतः छिन्न हो जाते हैं; ग्रन्थि खोलनी नहीं पड़ती, वह स्वतः खुल जाती है।

हम कैसे भी हों, भगवान्‌की कृपा ऐसी विलक्षण है कि वह हमें सब प्रकारके दोषों-पापोंसे मुक्त करके भगवान्‌के चरणोंका आश्रय प्रदान कर देती है। अन्यथा दीन-हीनोंका काम कैसे बनता।

अग्नि सबको प्राप्त है। उसका किस प्रकार प्रयोग करना, यह प्रयोग करनेवालेपर निर्भर करता है। ऐसे ही कर्म करनेकी शक्ति भगवान्‌ने प्रदान कर रखी है; अब इस शक्तिका प्रयोग किस प्रकारके कर्मोंमें करना—यह हमपर निर्भर करता है। यदि

हम अहंकारसे प्रेरित होकर, किसी विकारको लेकर कर्म करेंगे तो वह दोषयुक्त कर्म होगा तथा उसका बुरा फल हमें भोगना ही पड़ेगा; हम उससे बच नहीं सकते।

पापकर्म करना मनुष्यका स्वभाव नहीं है। पापकर्म होते हैं हमारे अन्तःकरणमें संचित वासनाओंको लेकर। अतएव पहले उन वासनाओंका निराकरण करना चाहिये।

संसारके अर्थ-भोग जिनके पास जितने अधिक हैं, वे उतने ही अधिक संतप्त हैं और वे दूसरोंको अधिक संतप्त करते हैं।

माँगना बहुत बुरा, पर माँगना ही हो तो भगवान्से ही माँगे और भगवान्को ही माँगे।

भगवान्की शरणागतिके दो रूप संतोंने बताये हैं—जैसे (१)—अपने पुरुषार्थसे, अपने प्रयत्नसे भगवान्के शरणापन्न होना तथा (२)—भगवान्की शरणागत-वत्सलतापर विश्वास करके भगवान्के

अपनी शरणमें लेनेकी प्रतीक्षा करना। जगत्में इनके उदाहरण हैं—बंदरीका बच्चा एवं बिल्लीका बच्चा। बंदरीका बच्चा स्वयं अपनी ओरसे उछलकर माँकी छातीसे चिपक जाता है, पर बिल्लीका बच्चा अपनी ओरसे सक्रिय नहीं होता। बिल्ली स्वयं दाँतोंसे पकड़कर चाहे जब तथा चाहे जहाँ बच्चेको ले जाती है। रामकृष्ण परमहंसने दूसरे प्रकारके साधनको बहुत श्रेष्ठ बताया है। इस साधनमें पुरुषार्थ न करना नहीं है, पर अपने पुरुषार्थ-साधनपर निर्भरताका भाव नहीं रहता।

अन्याश्रयका सर्वथा त्याग 'निर्भरता' है और निर्भरता आती है विश्वाससे। यद्यपि विश्वास भगवान्की कृपासे ही होता है, फिर भी जीवसे भगवान् इतनी अपेक्षा अवश्य रखते है कि 'वह मुझे अपना मान ले'। 'भगवान् ही मेरे हैं'—जहाँ यह विश्वास हुआ कि निर्भरता स्वतः आ जाती है।

साधकके सामने दो चीजें आती हैं प्रधान-रूपसे—प्रलोभन और भय। कहीं उसकी पूजा होने

लगती है, सम्मान होने लगता है, खानेको अच्छा मिलता है, उसके मतका आदर होता है—आदि-आदि प्रलोभन आते हैं और साधक उनमें रम जाता है और कहीं शरीरके आराम-त्यागका भय, भोगोंके विनाशका भय, लोक-निन्दाका भय, अपमानका भय आदि आते हैं और साधक विचलित होकर साधनका त्याग कर देता है। जो साधक उपर्युक्त प्रलोभनों एवं भयोंकी परवाह न करके अपनी साधनामें दत्तचित्त रहता है, वह लक्ष्यतक पहुँच जाता है।

'दैन्य'का अर्थ यह नहीं है कि साधक अपनेको इतना पतित मान ले कि उसके मनमें यह बात आ जाय कि वह भगवान्‌का कैसे हो सकता है। इसके विपरीत उसके मनमें यह भाव आना चाहिये कि मैं अपनी अयोग्यताके कारण और किसीका हो नहीं सकता, पर भगवान् तो पतितपावन हैं; अतएव वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ।

खाली घरमें घुसनेका भगवान्‌का स्वभाव है। जबतक अपने अन्तःकरणमें हम कुछ छिपाकर रखते हैं, तबतक भगवान् आते हैं और झाँककर लौट जाते हैं। इसलिये अपने हृदयको सर्वथा खाली कर दें—दीन-हीन हो जायँ—किसी भी साधन-गुणका अभिमान अपनेमें न रखें।

भगवान्‌ने गीतामें घोषणा की है—'जीवनके अन्तकालमे जो मेरा स्मरण करते हुए शरीरको छोड़कर जाता है—ऐसा कोई भी हो, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें संदेह नहीं है।' जगत्‌में भी हम देखते हैं कि छायाचित्र लेनेमें कैमरेका स्विच दबानेके समय सामनेवालेकी जैसी आकृति होती है, वैसी ही फोटो आती है। भगवान्‌की इस घोषणाका हम दुरुपयोग करते हैं और कहते हैं कि 'जब अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण कर लेनेमात्रसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी तो अभी अन्य जरूरी-जरूरी काम कर लिये जायँ, अन्तकालमें

भगवान्‌का स्मरण कर लेंगे'। इसपर भगवान्‌ने सावधान किया है कि 'जीवनभर जिस कार्यमें मन रहेगा, अन्तकालमें उसीका स्मरण होगा—यह निश्चय है। अतएव सब समय मेरा स्मरण करते हुए जगत्‌का काम करो।' जीवनभर मुझे भुलाये रहकर अन्तकालमें मेरे स्मरणकी आशा कदापि न करो; यह धोखा है। इससे सावधान हो जाओ।

कुछ करना नहीं है, केवल अपने मुखको भगवान्‌के सम्मुख मोड़ देना है। भगवान्‌के सम्मुख होते ही भगवान्‌के विरोधी अपने-आप विमुख हो जायँगे। भोग-विमुखता और भगवत्-सम्मुखता—दोनों साथ-साथ होती है। भोगका अर्थ है—भगवान्‌से रहित स्थिति।

भगवान्‌को सर्वत्र देखकर, सब जीवोंमें उनकी अनुभूति करके जीवमात्रकी सेवामें संलग्न रहना—यह संतका सहज स्वभाव होता है। संत सदैव सचेष्ट रहता है कि उसकी प्रत्येक चेष्टा

भगवान्‌की पूजा होती रहे।

जो भगवान्‌से भोग चाहता है, वह भोगोंका गुलाम है; उसके आराध्य भगवान् नहीं, भोग हैं। भगवान् उसके साध्य नहीं होते, भगवान् उसके लिये भोग-प्राप्ति करानेके साधनमात्र होते हैं।

भगवान्‌के लिये जीना, भगवान्‌के लिये मरना जिसके जीवनका स्वभाव है, वह प्रेमका निगूढ़ भाजन है। ऐसे जीवनके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

'प्रेम'का अर्थ है—भगवत्प्रेम। 'प्रेम'के नामपर जगत्‌में 'काम' चलता है। वह हमारी चर्चाका विषय नहीं है। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सहजमें नहीं होती। बहुत ऊँची साधनाकी सिद्धिके पश्चात् भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

भगवत्प्रेम क्या है—यह कोई बता नहीं सकता। कहनेके लिये कुछ सांकेतिकरूपसे समझनेके लिये कह सकते है—यह भगवान्‌की अपनेमें ही अपनेसे ही अपनी लीला है।

भगवान्‌के साथ खेले—ऐसा भगवान्‌का साथी कौन है ? भगवान् जिस खेलको खेलें, ऐसा खेल कौन-सा है ? वास्तवमें उनके योग्य न कोई साथी है न कोई खेल ही। अतएव भगवान् ही प्रेमास्पद हैं, भगवान् ही प्रेमी हैं और भगवान् ही प्रेम हैं।

स्वयं ही प्रेमी और प्रेमास्पद बनकर—एक-दूसरेकी प्रीतिके आश्रयालम्बन और विषयालम्बन बनकर जो भगवान्‌की परम दिव्य अचिन्त्यानन्त गौरवमयी पवित्रतम लीला चलती है—वास्तवमें इसे ही भगवत्प्रेम कहते हैं। इस प्रेममें ऐसा माना जाता है और यह परम सत्य है कि भगवान् ही स्वयं अपने आनन्द-स्वरूपको—अपने भावस्वरूपको लेकर अनन्त लीलारूप धारण किये रहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण ही 'राधा'स्वरूपमें लीला करते हैं। अतएव श्रीराधा भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न हैं। श्रीराधाके बिना श्रीकृष्णका और श्रीकृष्णके

बिना श्रीराधाका अस्तित्व नहीं। दोनोंका अविनाभाव-सम्बन्ध है। रसराज महाभावके प्रेमके विषय बनते हैं और महाभाव रसराजके प्रेमका विषय बनता है। इस प्रकार परस्पर बड़ी पवित्र लीला चलती है।

श्रीराधा महाभावरूपा हैं और श्रीराधाके आराध्य, प्रेमास्पद, परमप्रेष्ठ हैं—रसराज श्रीकृष्ण।

श्रीराधाके भावोंका, श्रीराधाके अचिन्त्यानन्त भाव-समुद्रकी परम विभिन्न परमानन्दमयी तरंगोंका न तो कोई वर्णन कर सकता है, न गणना और न इनके स्वरूपका विश्लेषण। अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रेमकी विशुद्ध परमाह्लादमयी तरंगें—रसमयी मधुर तरंगें उठती रहती हैं और बड़े-बड़े प्रेमी भक्त, बड़े-बड़े भाग्यशाली ऋषि-मुनि और कोई-कोई देवता ही उन रस-मधुर-तरंगोंके दर्शन कर पाते हैं, आस्वादन तो बहुत दूर।

श्रीराधाके प्रेमकी विभिन्न तरंगोंका वर्णन नहीं

हो सकता—केवल शाखाचन्द्रन्यायसे संकेतमात्र होता है। जैसे किसीको द्वितीयाका चन्द्रमा दिखलाना है तो यह कहा जाता है कि 'देखिये, सामने उस डालसे इतना ऊपर चन्द्रमा दिखायी दे रहा है।' डालसे उतना ऊपर चन्द्रमा नहीं है, पर डालका संकेत करके चन्द्रमाको दिखानेकी प्रक्रिया होती है। इसी प्रकार श्रीराधाके गुणोंका, भावोंका संकेतमात्र किया जाता है, वर्णन नहीं। वर्णन तो असम्भव है।

जगत्‌में धनविषयक मान्यता पृथक्-पृथक् है—किसीका धन विद्या है, किसीका धन बुद्धि है, किसीका धन विषय हैं, किसीका सम्पत्ति, किसीका धन सोना, किसीका धन पारलौकिक सुख। पर सर्वस्व-समर्पण-मयी श्रीराधके जीवनका धन क्या है—श्रीकृष्ण।

जहाँ प्रेमका प्रारम्भ होता है, वहीं त्यागकी पराकाष्ठा होती है। त्याग जहाँ पूर्णताको प्राप्त हो जाता है, पहुँच जाता है, वहाँसे भगवत्प्रेमका आरम्भ होता है।

भगवत्प्रेमी सर्वदा, सर्वथा मुक्त होते हैं; मायाका

राज्य उनके समीप नहीं जा पाता। वह तो दूरसे ही विलीन हो जाता है। जैसे पौ फटना आरम्भ होते ही अन्धकार मरने लगता है, उसी प्रकार प्रेम-सूर्यके उदयकी तो बात ही क्या, प्रेमके उषःकालमें ही मायाका अन्धकार सारित हो जाता है, मिट जाता है, मर जाता है।

भगवान्‌की मधुर लीलामें उनका ऐश्वर्य छिपा रहता है, क्रियाशील नहीं होता। जिन भगवान्‌के भयसे भय काँपता है, जिनके भयसे काल, यमराज आदि अपने-अपने कर्तव्यमें संलग्न हैं, वे ही श्रीकृष्ण वात्सल्यकी मूर्ति श्रीयशोदा मैयाकी डाँटसे भयभीत हो जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूप, लीला आदिसे माधुर्यका इतना प्रसार करते हैं कि सबका चित्त उनकी ओर खिंचता चलता है। उनकी आकर्षण-लीला निरन्तर चलती रहती है।

मधुर लीलामें ऐश्वर्य आता है तो वह सेवा करनेके लिये; छिपकर माधुर्यको कम करने या हटानेके लिये नहीं।

प्रेमीमें जब प्रियतम भगवान्‌से मिलनकी इच्छा

जगती है, तब वह मार्गकी कठिनाइयोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता। बस, मिलनकी त्वरामें वह चल पड़ता है। फिर चाहे वह मार्गकी गर्मीसे जलकर भस्म क्यों न हो जाय, उसकी उसे कुछ परवा नहीं। वह प्रियतमसे मिले बिना रह नहीं सकता। एक कथा आती है—भगवान् श्रीश्यामसुन्दर पहाड़पर सघन छायामें जाकर बैठ गये। पहाड़पर जानेका रास्ता पथरीला, सीधी चढ़ाई, मार्गमें एक भी पेड़ नहीं और मध्याह्नका समय। एक सखीको प्रियतमके समीप जाना है। वह पहाड़पर चढ़ने लगी। देखनेवालोंने उसे रोका—'इतनी कड़ी धूपमें पहाड़पर कैसे चढ़ोगी, झुलस जाओगी' पर उसने किसीकी एक बात भी नहीं सुनी। तप्त पत्थरोंपर जब उसके चरण टिकते थे, तब उसे अनुभव होता कि कोई शीतल गद्दी बिछी हुई है और ऊपर कोई शीतल छाया करता चला जा रहा है। प्रत्येक चरण उसे प्रियतमके निकट अनुभव करा रहा था; बस, इसी हेतुसे उसे ऐसा सुखद अनुभव हो रहा था। यह है प्रेमकी विलक्षणता।

——::×::——